

पाठ्यक्रम - १३

୧୩.ଅ

जैन विश्व संरचना - लोक-अलोक

लोकाकाश का आकार

जीवादि छह द्रव्य जहाँ पर रहते हैं, उसे लोकाकाश
कहते हैं। इसका आकार दोनों पैर फेलाकर, कमर पर
हाथ रखे हुए, पंक्तिबद्ध खड़े हुए, सात पुरुषों के समान
है। यह लोकाकाश सभी ओर से क्रमशः घनोदधि
वातवलय, घन वातवलय व अंत में तनुवातवलय से
धिरा है।

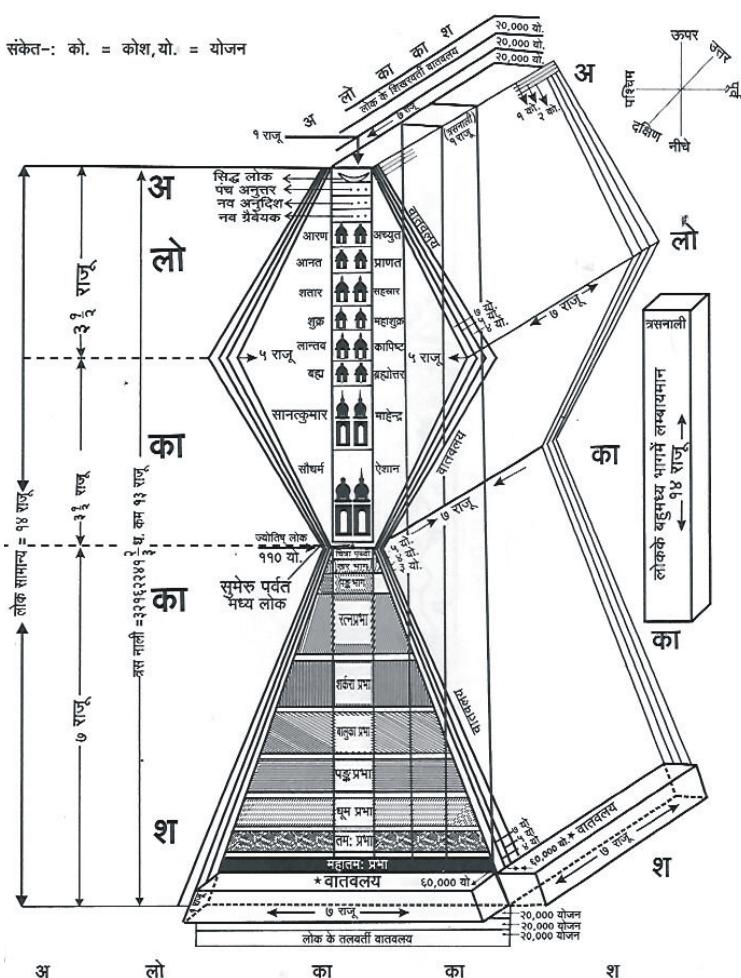
लोकाकाश के तीन भेद - ऊर्ध्वलोक , मध्यलोक व
अधोलोक हैं। लोकाकाश के बाहर अनन्त आकाश है
जिसे अलोकाकाश कहते हैं, अलोकाकाश में एकमात्र
आकाश द्रव्य है। ऊर्ध्वलोक मृदंग के आकार का,
अधोलोक वेत्रासन के आकार का एवं मध्यलोक झालर
के आकार का है।

तीन लोक की लंबाई-चौड़ाई- लोकाकाश
के बीचोबीच एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी और
चौदह राजू ऊँची लोक नाड़ी है। लोक नाड़ी के बाहर
का स्थान निष्कुट क्षेत्र कहलाता है जिसमें मात्र स्थावर
जीव ही रहते हैं। ऊर्ध्वलोक में स्वर्ग है जिसमें देव गण
निवास करते हैं। अधोलोक में नरक हैं जिसमें नारकी
रहते हैं एवं मध्यलोक में सिद्ध परमेष्ठी को छोड़कर
शेष चार परमेष्ठी एवं अन्य जीव (देव, मनुष्य, तिर्यच गति के) रहते हैं।

मध्यलोक के द्वीप समुद्र

मध्यलोक के बीचोबीच थाली के आकार का गोल जम्बूद्वीप है। जिसे घेरे हुए चूड़ी के समान गोलाकार असंख्यात समुद्र व द्वीप हैं। जम्बूद्वीप के बाद लवण समुद्र उसके बाद धातकीखण्ड, फिर कालोदधि समुद्र, फिर पुष्कर द्वीप है। इस जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड व आधे पुष्कर द्वीप को मिलाने पर ढाई द्वीप हो जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के द्वारा पुष्करद्वीप दो भागों में बँट जाता है। मनुष्य गति के जीव इस पर्वत के भीतर ही रहते हैं बाहर नहीं अतः मानुषोत्तर पर्वत के आगे पुष्करार्ध द्वीप को आदि करके चूड़ी के आकार वाले एक दूसरे को घेरे असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सबसे अन्त में स्वयंभूरमण द्वीप व समुद्र है। इस द्वीप एवं समुद्र में ही उत्कृष्ट अवगाहना वाले तिर्यञ्च जीव पाए जाते हैं। मध्यलोक के मध्य में नाभि सदृश अत्यन्त ऊँचा, हरे-भरे वृक्ष, उपवन, चैत्यालयों से युक्त सुमेरु पर्वत है। इस पर्वत के ऊपरी भाग में पाण्डुक वन है जिसमें पाण्डुक शिला है उस पर ही इन्द्र द्वारा तीर्थकर बालक का जन्माभिषेक किया जाता है।

मध्यलोक के बीचेबीच स्थित जम्बूद्वीप के क्षेत्र विभाजन का सामान्य वर्णन करते हैं :-



इस जम्बूद्वीप का विभाजन पूर्व – पश्चिम दिशा में फैले हुए छह पर्वतों के द्वारा होता है, इनके द्वारा जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों में विभाजित हो जाता है। छह पर्वतों के नाम क्रमशः हिमवान्, महा हिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिणी पर्वत हैं तथा सात क्षेत्रों के नाम क्रमशः भरत, हैमवत्, हरि, विदेह, रम्यक, हिरण्यवत् और ऐरावत क्षेत्र हैं।

मध्य लोक में नदियाँ

प्रत्येक पर्वत पर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुण्डरीक व पुण्डरीक नाम वाले एक-एक तालाब हैं। इन तालाबों में से क्रमशः ३, २, २, २, २ व ३ अर्थात् कुल चौदह नदियाँ निकलती हैं। गङ्गा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियाँ पूर्व लवण समुद्र में मिलती हैं। सिंधु, रोहितास्या, हरिकांता, सीतोदा, नरकांता, रुप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियाँ पश्चिम लवण समुद्र में मिलती हैं।

ढाई द्वीप में आर्य व म्लेच्छ खण्ड

भरत क्षेत्र में बहने वाली गंगा, सिंधु नदियों के द्वारा भरत क्षेत्र एक आर्यखण्ड एवं पाँच म्लेच्छ खण्ड ऐसे छह भागों – भागों में बँट जाता है। इसी प्रकार अपनी – अपनी नदियों के द्वारा ऐरावत क्षेत्र एवं विदेह क्षेत्र संबंधी बत्तीस नगरियों में भी एक-एक आर्यखण्ड एवं पाँच-पाँच म्लेच्छखण्ड होते हैं। अतः जम्बूद्वीप में कुल चौंतीस (३४) आर्यखण्ड एवं एक सौ सत्तर (१७०) म्लेच्छखण्ड होते हैं।

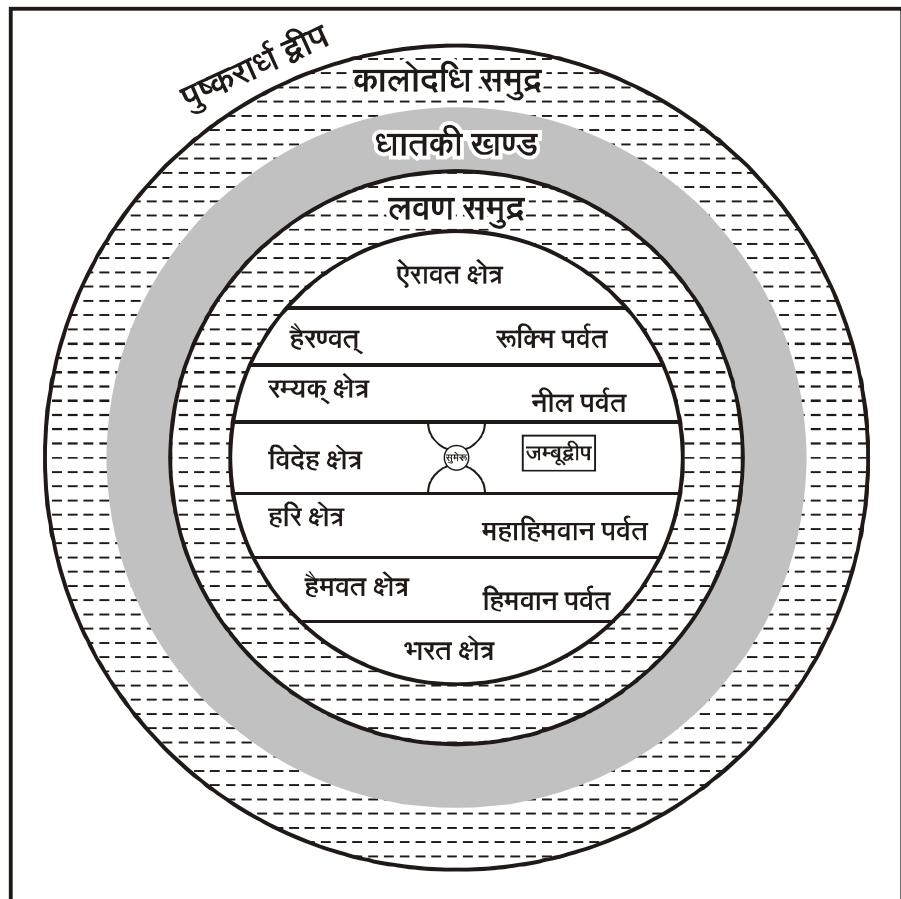
धातकीखण्ड एवं पुष्करार्ध द्वीप में दो-दो भरत क्षेत्र, दो-दो ऐरावत क्षेत्र, दो-दो विदेह क्षेत्र (कुल चौंसठ – चौंसठ नगरियाँ) होते हैं। अतः कुल ढाई द्वीप में एक सौ सत्तर (१७०) आर्यखण्ड एवं आठ सौ पचास (८५०) म्लेच्छखण्ड होते हैं। आर्यखण्ड में ही तीर्थकरों का जन्म होता है अतः सभी एक सौ सत्तर आर्यखण्डों में यदि एक साथ तीर्थकर होवे तो अधिक से अधिक एक सौ सत्तर तीर्थकर एक साथ हो सकते हैं।

वातवलय का स्वरूप –

जैसा छाल वृक्ष को चारों ओर से घेरे रहती है, वैसे ही घनोदधि आदि वातवलय चारों ओर से लोक को घेरे हुए हैं। सर्वप्रथम गोमूत्र के वर्ण वाला घनोदधि वातवलय है जिसमें सघन रूप से जल और वायु भरी है। उसके पश्चात् मूँग के वर्ण वाला घनवात वलय है जिसमें सघन वायु भरी है। तीसरा अंतिम तनुवात वलय अनेक वर्ण वाला है जिसमें विरल वायु का अवस्थान है।

मूर्ख मनुष्य भय से पहले ही डर जाता है, कायर भय के समय ही डरता है और साहसी भय के बाद डरता है।

ढाई द्वीप में क्षेत्र और पर्वत



पाठ्यक्रम - १३

१३.ब

महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी

जैन साहित्य में चौदहवीं शताब्दी के बाद संस्कृत महाकाव्य की विभिन्न शृंखला को जोड़ने वाले, त्याग, तपस्या, निरभिमानता, उदारता, साहित्य सृजन आदि गुणों की साक्षात् मूर्ति आचार्यश्री ज्ञानसागर जी महाराज हुए हैं।

राजस्थान प्रान्त के सीकर जिलान्तर्गत राणोली ग्राम में सेठ सुखदेवजी रहते थे। उनके पुत्र श्री चतुर्भुज का विवाह धृतवरी देवी से हुआ। चतुर्भुज जी को छह पुत्र रत्नों की प्राप्ति हुई, जिनमें से पाँच जीवित रहे। सबसे बड़े पुत्र का नाम छगनलाल रखा गया। इसके पश्चात् धृतवरी देवी ने संवत् १९८१ में जुड़वा पुत्रों को जन्म दिया किन्तु जन्म के कुछ ही समय बाद जीवन के लक्षण न मिलने से दोनों शिशुओं को मृत जान लिया गया। परन्तु शीघ्र ही एक शिशु में जीवन के लक्षण प्राप्त हुए पर दूसरा बालक मृत्यु को प्राप्त हुआ। जीवित बालक का नाम भूरामल रखा गया। भूरामल के तीन अनुज और हुए जिनका नाम क्रमशः गंगा प्रसाद, गौरीलाल और देवीदत्त था।

बाल्यकाल से ही भूरामल जी की अध्ययन के प्रति रुचि थी। सर्वप्रथम कुचामन के पं. श्री जिनेश्वरदास जी ने राणोली ग्राम में ही भूरामल को धार्मिक एवं लौकिक शिक्षा दी। भूरामल जी की 10 वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता जी की मृत्यु हो गई, जिससे उनकी पारिवारिक अर्थव्यवस्था बिगड़ गई। आजीविका हेतु बड़े भाई गया पहुँच गए।

गाँव में शिक्षा की व्यवस्था न होने के बाद में भूरामल जी भी गया नगर पहुँच गये। कुछ दिन पश्चात् स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह में भाग लेने के लिए गया आये। उनको देखकर भूरामल जी के मन में भी वाराणसी में विद्या ग्रहण करने की इच्छा बलवती हो आई। तब वे बड़े भाई से आज्ञा लेकर 15 वर्ष की उम्र में वाराणसी चले गए। वाराणसी में स्याद्वाद महाविद्यालय से उन्होंने संस्कृत साहित्य एवं जैनदर्शन की उच्चशिक्षा ग्रहण की। इसी बीच क्वीन्स कॉलेज काशी से उन्होंने शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की। वहाँ पर संस्कृत अध्यापक छात्रों की इच्छा होने पर भी उन्हें जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों की शिक्षा नहीं देते थे। दृढ़ निश्चय के अनुसार येन केन प्रकारेण अध्यापकों से जैन ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त की, उस समय पं. उमराव सिंह जी महाविद्यालय में धर्मशास्त्र के अध्यापक थे। इन्हों से भूरामल जी को जैन ग्रन्थों के अध्ययन की प्रेरणा मिली। वे अपने अध्ययन काल में भी स्वावलम्बन पर ही विश्वास करते थे तथा अपने परिश्रम से उपार्जित धन से ही विद्यालय के भोजनालय में भोजन किया करते थे।

अधिक अध्ययन की भावना से आप अजैन विद्वानों के पास पहुँचे और जैन ग्रन्थों के अध्ययन करने हेतु अपना निवेदन किया- तब एक अजैन विद्वान् व्यंग्य करके बोले- जैनों के यहाँ कहाँ है ऐसा साहित्य जो मैं तुम्हें पढ़ाऊँ। ये शब्द सुनकर उनके हृदय को बहुत टीस पहुँची उन्होंने मन से संकल्प लिया कि अध्ययन के उपरान्त ऐसे साहित्य का निर्माण करूँगा जिसे देखकर जैनेतर विद्वान् दाँतों तले अंगुली दबा लेंगे। कुछ दिन पश्चात् जब जयोदय महाकाव्य की प्रति जैनेतर विद्वानों को प्राप्त हुई तो विद्वानों ने कहा - कलिदास के साहित्य से टक्कर लेने वाला यह जैन साहित्य है। आपने विवाह को जैन साहित्य के निर्माण और उनके प्रचार में बहुत बड़ी बाधा मानकर मात्र अठारह वर्ष की उम्र में ही आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर ली थी। आपने संस्कृत, हिन्दी में अनेक मौलिक रचनाएं की एवं कई ग्रन्थों की हिन्दी टीका तथा पद्यानुवाद भी किए। जो निम्नलिखित हैं -
संस्कृत साहित्य - 1. जयोदय महाकाव्य, (2 भाग), 2. वीरोदय महाकाव्य, 3. सुदर्शनोदय महाकाव्य, 4. भद्रोदय महाकाव्य, 5. दयोदय चम्पू काव्य, 6. सम्यक्त्वसार शतक, 7. मुनिमनोरञ्जनाशीति, 8. भक्ति संग्रह, 9. हित सम्पादक।

हिन्दी साहित्य - 10. भाग्य परीक्षा, 11. ऋषभ चरित्र, 12. गुण सुन्दर वृत्तान्त, 13. पवित्र मानव जीवन, 14. कर्तव्य पथ प्रदर्शन, 15. सचित्त विवेचन, 16. सचित्त विचार, 17. स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म, 18. सरल जैन विवाह विधि, 19. इतिहास के पन्ने, 20. ऋषि कैसा होता है?

टीका ग्रन्थ - 21. प्रवचनसार, 22. समयसार, 23. तत्वार्थसूत्र, 24. मानवधर्म।

पद्यानुवाद - 25. विवेकोदय, 26. देवागम स्तोत्र, 27. नियमसार, 28. अष्टपाहुड एवं 29. शांतिनाथ पूजन विधान।

इस प्रकार उपरोक्त अनेक ग्रन्थों के निर्माण एवं पठन-पाठन करते हुए भूरामल जी ने अपनी युवावस्था व्यतीत की। आत्मकल्याण की प्रबल भावना होने पर सन् 1947 ई (संवत् 2004) में आचार्य वीरसागरजी महाराज की आज्ञा से अजमेर नगर में ब्रह्मचर्य प्रतिमा अंगीकार की। धीरे-धीरे ब्र. भूरामल जी के मन में वैराग्य भाव और भी बढ़ा, फलस्वरूप विक्रम संवत् 2012 सन् 1955 ई. में मनसुरपुर (रेनवाल) में उन्होंने वीरसागरजी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा प्राप्त कर ज्ञानभूषण नाम प्राप्त किया उसके बाद कुछ समय और एलक अवस्था में व्यतीत कर सन् 1959 में आचार्य शिवसागरजी महाराज से मुनि दीक्षा स्वीकार कर उनके प्रथम शिष्य मुनि ज्ञानसागर बनने का सौभाग्य प्राप्त किया।

आप संघ में रहकर साधु, आर्थिका एवं श्रावक-श्राविकाओं को अध्ययन कराते रहे। कुछ समय पश्चात् धर्म प्रचार हेतु आचार्य संघ से पृथक् अनेक स्थानों पर आपने विहार किया एवं अनेक आत्म कल्याण के इच्छुक भव्य जनों को संयम-ब्रत प्रदान किया। श्री विवेकसागरजी के मुनिदीक्षा ग्रहण के अवसर पर जैनसमाज ने 7 फरवरी सन् 1969 ई. को मुनि ज्ञानसागरजी को आचार्य पद से सुशोभित किया।

महाकवि ज्ञानसागरजी महाराज का शरीर क्षीणता को प्राप्त हो रहा था तब उन्होंने 22 नवम्बर 1972 ई. (मार्गशीर्ष कृ.2 वि.सं. 2020) को अपना पद सुयोग्य शिष्य मुनि विद्यासागर जी को सौंप दिया एवं स्वयं पूर्णरूपेण वैराग्य, तपश्चरण एवं सल्लेखना में सन्नद्ध हो गए। इस समय उन्होंने जल और रस पर ही शरीर धारण करना शुरू कर दिया शेष खाद्य सामग्री का सदा के लिए परित्याग कर दिया। 28 मई सन् 1973 को उन्होंने सभी प्रकार के आहार का परित्याग कर दिया। अन्त में ज्येष्ठ कृष्णा 15 विक्रम संवत् 2023 शुक्रवार तदनुसार दिनांक 1 जून सन् 1973 ई. को दिन में 10 बजकर 50 मिनट पर नसीराबाद में महाकवि ज्ञानसागर जी महाराज समाधिस्थ हो गए।

श्री ज्ञानसागर जी के प्रमुख शिष्य में मुनि श्री विद्यासागर जी, मुनि श्री विवेकसागर जी, मुनि श्री विजयसागर जी, एलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री स्वरूपानन्दजी, क्षुल्लक सुखसागर जी, क्षुल्लक संभवसागर जी, ब्र. जमनालाल जी एवं ब्र. लक्ष्मीनारायण जी थे।

जैन जाति नहीं, धर्म है

सामान्यतः: लोग 'जैन' को जातिवाचक संज्ञा समझ लेते हैं और वर्तमान में मात्र जैन लोगों को ही जैन धर्म का अनुयायी मान लेते हैं। **किन्तु वस्तुतः**: 'जैन' एक धर्म है, जाति नहीं।

इसका जाति से कोई संबंध नहीं है। किसी भी जाति का मानव जैनधर्म का पालन कर सकता है। किन्तु अब तक के इतिहास में कभी किसी को जबरन जैन धर्मानुयायी नहीं बनाया गया और न इस तरह के विश्वास को पनपने दिया गया। यहाँ जाति से तात्पर्य मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र से नहीं है, बल्कि मनुष्यों के अलावा पशुओं से भी है। तीर्थकरों के समवशरण (उपदेश सभा) में सभी जाति के मनुष्य तो आते ही थे, साथ-साथ पशु-पक्षियों के बैठने की भी व्यवस्था थी। जैन धर्म के सभी तीर्थकर क्षत्रिय जाति के थे। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम तथा अन्य दस गणधर ब्राह्मण जाति के थे। गौतम गणधर ने भी दिग्म्बर मुनि दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया था।

जैनधर्म और सत्य का रास्ता

हम जानते हैं, कि पूरी दुनिया में वे धर्म ज्यादा लुभावने तथा जनता के प्रिय बन जाते हैं जो चमत्कार तथा सस्ते साधनों से मुक्ति की सिद्धि बतलाते हैं। किन्तु जैनधर्म असत्य के आधार पर प्रचार-प्रसार या संख्या बढ़ाने के पक्ष में कभी नहीं रहा। उसका विश्वास है वस्तु का जो स्वभाव है, हम उसे वैसा ही बतलाएँगे, अब कोई इस बात को माने तो उसका स्वागत है, न माने तो न माने। सिर्फ संख्या बढ़ाने के लिए हम सत्य का रास्ता नहीं छोड़ सकते। इसलिए जिन वीरों को आत्म पुरुषार्थ के सिद्धान्त पर विश्वास हुआ, उन्होंने ही जैन धर्म अपनाया। चमत्कार प्रिय लोगों को यह मार्ग कठिन दिखाई दिया। शायद यही कारण भी है कि जैन अनुयायियों की संख्या कम है।

पाठ्यक्रम - १३

१३.स

महापुण्यशाली - ६३ शलाका पुरुष

शलाका पुरुषों की संख्या प्रत्येक काल में ६३ ही होती है। जिनमें २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण होते हैं। तीर्थकरों के माता-पिता ४८, ९ नारद ११ रुद्र, २४ कामदेव तथा १४ कुलकर मिलाने से १६९ महा पुरुष होते हैं।

तीर्थकर :- तीर्थकर नामक विशेष पुण्य प्रकृति का जिनके उदय होता है, वे तीर्थकर कहलाते हैं।

चक्रवर्ती :- एक आर्यखण्ड तथा पाँच म्लेच्छखण्ड इस प्रकार छह खण्डों का स्वामी ३२ हजार मुकुटबद्ध राजाओं का तेजस्वी अधिपति चक्रवर्ती हुआ करता है। वह १४ रत्न एवं ९ निधियों का मालिक होता है। चक्रवर्ती की ९६ हजार रानियाँ होती हैं। प्रतिदिन स्वादिष्ट भोजन बनाकर देने वाले ३६५ रसोइया होते हैं। चक्रवर्ती के वैभव स्वरूप- तीन करोड़ गौशालाएँ, एक करोड़ हल, एक करोड़ स्वर्ण थाल, ८४ लाख हाथी, इतने ही रथ, १८ करोड़ घोड़े, ८४ करोड़ योद्धा एवं ४८ करोड़ पदाति होते हैं।

१४ रत्न एवं ९ निधियाँ इस प्रकार हैं:-

१. चक्र रत्न	२. छत्र रत्न	३. खड्ग रत्न	४. दण्ड रत्न	५. काकिणी रत्न
६. मणि रत्न	७. चर्म रत्न	८. सेनापति रत्न	९. गृहपति रत्न	१०. गज रत्न
११. अश्व रत्न	१२. पुरोहित रत्न	१३. स्थपित रत्न	१४. युवति रत्न	

निधियाँ

१- काल	२- महाकाल	३- पाण्डु
४- मानव	५- शंख	६- पद्म
७- नैसर्प	८. पिंगल	९- नाना रत्न

बलदेव :- वे नारायण के भ्राता होते हैं और उनसे प्रगाढ़ स्नेह रखते हैं। ये अतुल पराक्रम के धनी, अतिशय रूपवान और यशस्वी होते हैं। इनकी ८ हजार रानियाँ होती हैं। तथा ये पाँच रत्नों के स्वामी होते हैं।

वासुदेव (नारायण) - प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) - ये दोनों समकालीन होते हैं। पूर्वभव में निदान सहित तपश्चरण कर स्वर्ग में देव होते हैं और वहाँ से च्युत होकर वासुदेव-प्रतिवासुदेव बनते हैं। दोनों अर्धचक्रवर्ती होते हैं। इनकी सोलह-सोलह हजार रानियाँ होती हैं। प्रतिनारायण (प्रतिवासुदेव) प्रायः विद्याधर होते हैं और नारायण (वासुदेव) भूमिगोचरी, इनका आपस में जन्मजात बैर होता है। इनमें किसी निमित्त से युद्ध होता है, जिसमें नारायण के द्वारा प्रतिनारायण मारा जाता है। ये दोनों निकट भव्य होते हैं, परन्तु अनुबद्ध बैर के कारण नरक में जाते हैं।

नारद :- ये नारायण - प्रतिनारायण के काल में होते हैं, ये अत्यन्त कौतूहली और कलहप्रिय होते हैं। नारायण और प्रतिनारायण को आपस में लड़ने में इनकी प्रमुख भूमिका रहती है।

ये ब्रह्मचारी होते हैं और इन्हें राजर्षि का सम्मान प्राप्त होता है। ये सारे राजभवन में बेरोकटोक आते-जाते रहते हैं, ये निकट भव्य होते हैं, परन्तु कलहप्रियता के कारण नरक में जाते हैं।

रुद्र :- ये सभी अधर्मपूर्ण व्यापार में संलग्न होकर रौद्रकर्म किया करते हैं, इसलिए रुद्र कहलाते हैं। ये कुमारावस्था में जिनदीक्षा धारण कर कठोर तपस्या करते हैं। जिसके फलस्वरूप इन्हें अंगों का ज्ञान हो जाता है, किन्तु दशवें विद्यानुवाद पूर्व का अध्ययन करते समय विषयों के आधीन होकर पथभ्रष्ट हो जाते हैं। संयम और सम्यक्त्व से पतित होने के कारण सभी रुद्र नरकगामी ही होते हैं। तिलोयपण्णति के अनुसार रुद्रों एवं नारदों की उत्पत्ति हुण्डावसर्पिणी काल में ही होती है।

कामदेव :- प्रत्येक कालचक्र के दुष्मा-सुष्मा काल में चौबीस कामदेव होते हैं। ये सभी अद्वितीय रूप और लावण्य के धनी होते हैं।

चौबीस तीर्थकर स्तवन

कराल काला व्याल सम, कुटिल चाल का काल।
जीत लिया तुमने उसे, हो गए आप निहाल॥
मोह अमल वश सबल बन, निर्बल मैं भयवान्।
विमलनाथ तुम अमल हो, संबल दो भगवान्॥ 13॥
अनन्त गुण पा कर दिया, अनन्त भव का अन्त।
अनन्त सार्थक नाम तव, अनन्त जिन जयवन्त॥
अनन्त सुख पाने सदा, भव से हो भयवन्त।
अन्तिम क्षण तक मैं तुम्हें, स्मरूँ स्मरें सब सन्त॥ 14॥
दया धर्म वर धर्म है, अदया-भाव अधर्म।
अधर्म तज प्रभु धर्म ने, समझाया पुनि धर्म॥
धर्मनाथ को नित नमूँ, सधे शीघ्र शिव शर्म।
धर्म-मर्म को लख सकूँ, मिटे मलिन मम कर्म॥ 15॥
शान्तिनाथ हो शान्त कर, सातासाता सान्त।
केवल, केवल-ज्योतिमय, क्लान्ति मिटि सब ध्वान्त॥
सकल ज्ञान से सकल को, जान रहे जगदीश।
विकल रहे जड़ देह से, विमल नमूँ नत शीश॥ 16॥
ध्यान-अग्नि से नष्ट कर, प्रथम पाप परिताप।
कुन्थुनाथ पुरुषार्थ से, बने न अपने - आप ॥
ऐसी मुझ पै हो कृपा, मम मन मुझ में आय।
जिस विध पल में लवण है जल में धूल-मिल जाय॥ 17॥
नाम-मात्र भी नहिं रखों, नाम-काम से काम।
ललाम आतम में करो, विराम आठों याम॥
नाम धरो 'अर' नाम तव, अतः स्मरूँ अविराम।
अनाम बन शिवधाम में, काम बनूँ कृत-काम॥ 18॥

मोहमल्ल को मार कर, मल्लि नाथ जिनदेव।
अक्षय बनकर पा लिया, अक्षय सुख स्वयमेव॥
बाल ब्रह्मचारी विभो, बाल समान विराग।
किसी वस्तु से राग ना, मम तव पद से राग॥ 19॥
मुनि बन मुनिपन में निरत, हो मुनि यति बिन स्वार्थ।
मुनिव्रत का उपदेश दे, हमको किया कृतार्थ॥
यही भावना मम रही, मुनिव्रत पाल यथार्थ।
मैं भी मुनिसुव्रत बनूँ, पावन पाय पदार्थ॥ 20॥
अनेकान्त का दास हो, अनेकान्त की सेव।
करूँ गहूँ मैं शीघ्र से, अनेक गुण स्वयमेव॥
अनाथ मैं जगनाथ हो, नमीनाथ दो साथ।
तव पद में दिन-रात हूँ, हाथ जोड़ नत-माथ॥ 21॥
नील गगन में अधर हो, शोभित निज में लीन।
नील कमल आसीन हो, नीलम से अति नील।
शील-झील में तैरते, नेमि जिनेश सलील।
शील डोर मुझ बांध दो, डोर करो मत ढील॥ 22॥
खास दास की आस बस, श्वास-श्वास पर वास।
पाश्व करो मत दास को, उदासता का दास॥
ना तो सुर-सुख चाहता, शिव-सुख की ना चाह।
तव थ्रुति-सरवर में सदा, होवे मम अवगाह॥ 23॥
नीर-निधि- से धीर हो, वीर बने गंभीर।
पूर्ण तैर कर पा लिया, भव सागर का तीर॥
अधीर हूँ मुझे धीर दो, सहन करूँ सब पीर।
चीर-चीर कर चिर लखूँ, अन्तर की तस्वीर॥ 24॥

विदेश में जैन साहित्य

लंदन स्थित एक पुस्तकालय में लगभग १५०० हस्तलिखित भारतीय ग्रन्थ हैं और अधिकतर ग्रन्थ प्राकृत-संस्कृत भाषाओं में हैं जैनधर्म से संबंधित हैं। जर्मनी में बर्लिन स्थित एक पुस्तकालय में १२ हजार भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, जिनमें बड़ी संख्या जैन ग्रन्थों की है। अमेरिका के वाशिंगटन और बौस्टन नगर में २० हजार पुस्तकें प्राकृत-संस्कृत भाषाओं में हैं, जो भारत से गई हुई हैं। फ्रांस में १२ हजार पुस्तकें प्राकृत-संस्कृत भाषा की हैं। जिनमें जैन ग्रन्थों की अच्छी संख्या है। रूस में २२ हजार पुस्तकें प्राकृत-संस्कृत की हैं। इनमें जैन पुस्तकें बड़ी संख्या में हैं। नेपाल के काठमांडू में जैन प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थ विद्यमान हैं तथा शोध-खोज की अपेक्षा रखते हैं। इसी प्रकार चीन, तिब्बत, बर्मा, इण्डोनेशिया, जापान, मंगोलिया, कोरिया, तुर्की, ईरान, असीरिया, काबुल आदि के पुस्तकालयों में भी भारतीय ग्रन्थ बड़ी संख्या में मौजूद हैं।

विक्रम की पॉचर्वी शताब्दी में चीनी याती फाह्यान भारत में आया था और यहाँ से ताड़पत्रों पर लिखी हुई १५२० पुस्तकें चीन ले गया था।

भक्तामर स्तोत्र

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणा, मुद्योतकं दलित-पाप-तमो-वितानम् ।

सम्यक् प्रणम्य जिन-पाद-युगं युगादा-, वालम्बनं भव-जले पततां जनानाम् ॥1॥

यः संस्तुतः सकल- वाङ्मय-तत्त्व-बोधा-, दुद्धूत-बुद्धि-पटुभिः सुर-लोक-नाथैः ।

स्तोत्रै-जंगत्रितय-चित्त-हरैरुदारैः, स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥2॥

अर्थ : (भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणाम्) भक्त देवों के झुके हुए मुकुटों के रत्नों की कान्ति को (उद्योतकम्) बढ़ाने वाले (दलितपाप-तमोवितानम्) पापरूपी अन्धकार के विस्तार को नष्ट करने वाले (च) और (युगादौ) युग के प्रारम्भ में (भवजले) संसाररूप जल में (पतताम्) गिरते हुए (जनानाम्) प्राणियों को (आलम्बनम्) सहारा देने वाले (जिनपाद-युगम्) जिनेन्द्र भगवान् के दोनों चरणों को (सम्यक्) भली भाँति (प्रणम्य) नमस्कार करके (यः) जो (सकल-वाङ्मय-तत्त्व-बोधात्) समस्त द्वादशाङ्क के यथार्थ ज्ञान से (उद्धूतबुद्धिपटुभिः) उत्पन्न हुई बुद्धि से चतुर (सुरलोक-नाथैः) इन्द्रों के द्वारा (जगत्-त्रितय-चित्त-हरैः) तीन लोक के प्राणियों के चित्त को हरने वाले (च) और (उदारैः) उत्कृष्ट (स्तोत्रैः) स्तोत्रों से (संस्तुतः) स्तुत किए गए थे (तम्) उन (प्रथमम्) प्रथम (जिनेन्द्रम्) जिनेन्द्र आदिनाथ की (अहम् अपि) मैं भी (किल) निश्चय से (स्तोष्ये) स्तुति करूँगा ।

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित-पाद-पीठ, स्तोतुं समुद्यत-मतिर्विगत-त्रपोऽहम् ।

बालं विहाय जल-संस्थित-मिन्दु-बिम्ब-, मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥3॥

अर्थ : (विबुधार्चित-पादपीठ!) देवों के द्वारा पूजित है पादपीठ-पैरों के रखने की चौकी/सिंहासन जिनकी ऐसे हे जिनेश ! (विगतप्रपः) लज्जा रहित (अहम्) मैं (बुद्ध्या विना अपि) बुद्धि के बिना भी (स्तोत्रुम्) स्तुति करने के लिए (समुद्यतमतिः) तत्पर हो रहा हूँ (यतः) क्योंकि (बालम्) बालक-मूर्ख को (विहाय) छोड़कर (अन्यः) दूसरा (कः जनः) कौन मनुष्य (जलसंस्थितम्) जल में प्रतिबिम्बित (इन्दुबिम्बम्) चन्द्रमण्डल को (सहसा) बिना विचारे (ग्रहीतुम्) पकड़ने की (इच्छति) इच्छा करता है अर्थात् कोई भी नहीं ।

वकुं गुणान् गुणसमुद्र शशाङ्क-कान्तान्, कस्ते क्षमः सुरगुरु-प्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।

कल्पान्त-काल-पवनोद्धृत-नक्र-चक्रं, को वा तरीतुमल-मम्बु-निधिं भुजाभ्याम् ॥4॥

अर्थ : (गुण समुद्र!) हे गुणों के सागर ! (बुद्ध्या) बुद्धि के द्वारा (सुरगुरु-प्रतिमः अपि) बृहस्पति के समान भी (कः) कौन पुरुष (ते) आपके (शशाङ्क-कान्तान्) चन्द्रमा के समान सुन्दर (गुणान्) गुणों को (वक्तुम्) कहने के लिए (क्षमः) समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं (वा) अथवा (कल्पान्त-काल-पवनोद्धृत-नक्रचक्रम्) प्रलयकाल की वायु के द्वारा प्रचण्ड है मगर मच्छों का समूह जिसमें ऐसे (अम्बुनिधिम्) समुद्र को (भुजाभ्याम्) भुजाओं के द्वारा (तरीतुम्) तैरने के लिए/पार करने के लिए (कः अलम्) कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !, कर्तुं स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः ।

प्रीत्यात्म-वीर्य मविचार्य मृगी मृगेन्द्रं, नाभ्येति किं निज-शिशोः परिपालनार्थम् ॥5॥

अर्थ : (मुनीश !) हे मुनियों के ईश ! (तथापि) तो भी (सः अहम्) वह मैं अल्पज्ञ (विगतशक्तिः अपि) शक्तिरहित होता हुआ भी (भक्तिवशात्) भक्ति के वश से (तव) आपकी (स्तवम्) स्तुति को (कर्तुम्) करने के लिए (प्रवृत्तः) तैयार हुआ हूँ (यथा) जैसे (मृगी) हिरण्यी (आत्मवीर्यम् अविचार्य) अपनी शक्ति का विचार न कर केवल (प्रीत्या) स्नेह के द्वारा (निजशिशोः) अपने बच्चे की (परिपालनार्थम्) रक्षा के लिए (किम्) क्या (मृगेन्द्रम् न अभ्येति) सिंह के सामने नहीं जाती ? अर्थात् जाती है ।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास-धाम , त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।

यत्कोक्तिलः किल मधौ मधुरं विरोति , तच्चाप्न-चारु-कलिका-निकरैक-हेतु ॥6॥

अर्थ : (अल्पश्रुतम्) अल्पज्ञानी अतएव (श्रुतवताम्) विद्वानों की (परिहासधाम) हँसी के स्थानरूप (माम्) मुझको (त्वद्भक्तिः एव) आपकी भक्ति ही (बलात्) बलपूर्वक (मुखरी-कुरुते) वाचाल कर रही है (किल) निश्चय से (मधौ) बसन्त ऋतु में

(कोकिलः) कोयल (यत्) जो (मधुरम् विरौति) मीठे शब्द करती है (तत्) वह (आम्रचारु-कलिका-निकरैक-हेतु) आम की सुन्दर मँजरी के समूह के कारण ही करती है ।

त्वत्संस्तवेन भव-सन्तति-सन्निबद्धं , पापं क्षणात् क्षय-मुपैति-शरीर-भाजाम् ।

आक्रान्त-लोक-मलिनील-मशेषमाशु , सूर्यांशु-भिन्नमिव-शार्वर-मन्थकारम् ॥7 ॥

अर्थ : (त्वत्संस्तवेन) आपकी स्तुति से (शरीरभाजाम्) प्राणियों के (भवसन्तति-सन्निबद्धम्) अनेक भवों के बँधे हुए (पापम्) पाप कर्म, (आक्रान्तलोकम्) सम्पूर्ण लोक में व्याप्त (अलिनीलम्) भौंरे के समान काले (सूर्यांशुभिन्नम्) सूर्य की किरणों से खण्डित (शार्वरम्) रात्रि सम्बन्धी (अशेषम्) समस्त (अन्थकारम् इव) अन्थकार की तरह (क्षणात्) क्षण भर में (आशु) शीघ्र ही (क्षयम्) विनाश को (उपैति) प्राप्त हो जाते हैं ।

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद- , मारभ्यते तनु-धियापि तव प्रभावात् ।

चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-दलेषु, मुक्ताफल-द्युतिमुपैति ननूद-बिन्दुः ॥8 ॥

अर्थ : (नाथ) हे स्वामिन् ! (इति मत्वा) ऐसा मानकर (मया तनुधिया अपि) मुझ मन्द बुद्धि के द्वारा भी (तव) आपका (इदम्) यह (संस्तवनम्) स्तवन (आरभ्यते) प्रारम्भ किया जाता है जो कि (तव प्रभावात्) आपके प्रभाव से (सताम्) सज्जनों के (चेतः) चित्त को (हरिष्यति) हरेगा (ननु) निश्चय से (उद्बिन्दुः) जल की बूँद (नलिनीदलेषु) कमलिनी के पत्तों पर (मुक्ताफलद्युतिम् उपैति) मोती-जैसी कन्ति को प्राप्त होती है ।

कुलभूषण-देशभूषण

इनकी शिक्षा प्राप्त करने की उम्र हो चुकी है ऐसा विचार कर माता-पिता ने दोनों बालक देशभूषण और कुलभूषण को गुरुकुल में भेज दिया । दोनों बालकों ने मन लगाकर गुरु से नीतिवाक्य, अस्त्र-शस्त्र चालन एवं अन्य विषयों पर शिक्षा प्राप्त की तथा शिक्षा पूर्ण होने पर वापस घर जाने का निवेदन किया । गुरु से आशीर्वाद ले घर सूचना पहुँचा दी गई कि अमुक दिन हम आएंगे ।

सारे नगर को दुल्हन की भाँति सजाया गया । अपने-अपने घरों के समक्ष महिलाये आरती लेकर खड़ी थी । आखिर क्यों न हो बहुत दिनों बाद भावी राजा अर्थात् राजकुमार नगर में पथार रहे हैं । इधर रथ जैसे ही मुख्य द्वार से प्रवेश किया कि दोनों भाइयों की नज़र सामने की गैलरी (छत) पर खड़ी एक अत्यन्त सुन्दर कन्या पर पड़ी । जिसे देखते ही दोनों क्षण मात्र में मोहित हो गए और उस कन्या से मैं ही विवाह करूँगा ऐसा सोचने लगे । उधर आगे बढ़ता हुआ रथ जैसे ही महल के द्वार पर पहुँचा तो उन्होंने देखा कि वही कन्या उनके माता-पिता के साथ हाथ में आरती लेकर खड़ी है । रथ से उतरते ही माँ ने उस कन्या का परिचय देते हुए कहा-बेटा ये तुम्हारी बहन है जिसका जन्म तुम्हारे गुरुकुल जाने के पश्चात् हुआ । बहुत दिनों से इसकी आँखें अपने युगल भाइयों को देखने के लिए तरस रहीं थीं । आज तृप्त हुई ।

यह बात सुनते ही दोनों को आत्मगलानि होने लगी । वे सोचने लगे धिक्कार है इस विषयवासना को जिसे योग्य-अयोग्य का विचार नहीं रहता । हमारी सभी बहन के विषय में हमने ऐसा विचार किया । तत्क्षण उन्हें संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने वन में जाकर मुनि दीक्षा अंगीकार की एवं घोर तप करते हुए कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र से मुक्ति का लाभ प्राप्त किया ।

पके हुए फल की तीन पहचान होती हैं, एक तो वह नरम हो जाता है, दूसरा वह मीठा हो जाता है, तीसरा उसका रंग बदल जाता है । जिसमें ये लक्षण न हों, वह कभी पका हुआ नहीं हो सकता है ।

इसी तरह से परिपक्व व्यक्ति की भी तीन पहचान होती हैं, पहली उसमें नम्रता होती है, दूसरी उसकी वाणी में मिठास होती है, तीसरी उसके चहरे पर आत्म विश्वास का रंग होता है ।